

बसपा की रजत जयंति : बहुजन से सर्वजन तक की

अवसरवादी यात्रा के पच्चीस साल

बहुजन समाज पार्टी ने हाल ही में अपनी स्थापना के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर 'रजत जयंति' समारोह धूमधाम से मनाया। इस अवसर पर बसपा सुप्रीमो मायावती ने अपनी शक्ति, सत्ता और वैभव का जो प्रदर्शन किया वह कल्पनातीत था। इस रैली में चार लाख से लेकर 20 लाख तक लोगों की भागीदारी की खबरें आईं तो इसके आयोजन पर 200 करोड़ तक का खर्च आंका गया। इस अवसर पर 1000-1000 रुपये के नोटों की विशाल माला से मायावती का स्वागत हुआ और इस माला की कीमत सैंकड़ों करोड़ बतायी जा रही है। इस रैली की भव्यता देख कर कोई यह अंदाज नहीं लगा सकता कि यह उस पार्टी की रैली है जो अपने को कभी दलितों-वंचितों की पार्टी कहती थी। या फिर मायावती के शब्दों में यह 'दलित की बेटी' की रैली है।

बहुजन समाज पार्टी की पच्चीस साल की यात्रा के बाद वह जिस स्थान पर पहुंच गई है, उसने भारत में दलित प्रश्न अथवा जाति समस्या पर सोचने की एक नयी दृष्टि दी है। कभी दलितों-वंचितों के नाम पर, उनके परिश्रम का व जातीय दंश से मुक्ति के नाम पर बनी यह पार्टी आज अपनी दलित पहचान से छुटकारा पाने के लिए छटपटाती नजर आती है तो कभी उच्च जातियों को आकर्षित करने के लिए 'मनुवादियों' से भी अधिक मनुवादी बन कर उनसे होड़ करती नजर आती है। सोशल इंजीनियरिंग के नाम पर एक से एक अवसरवादी प्रयोग बसपा की पहचान बन गये हैं। दलित होने का मतलब शोषित-वंचित या संपत्तिविहीन होना ही नहीं है, बसपा ने इसे बखूबी स्थापित किया है।

बसपा की मौजूदा शक्ति और वैभव को देख कर दलितों के बीच गर्व से सीना फुलाने वाले लोग भी हैं। उनके लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि बसपा ने अपने सिद्धांत, नारों व उद्देश्य को कूड़ेदान में फेंक दिया हो अथवा राजनीति में नैतिकता-अनैतिकता की परिभाषा से अपने को ऊपर उठा लिया हो। उनके लिए सत्ता, शक्ति और वैभव ही मुख्य चीज है जिससे दलित समुदाय वर्षों से वंचित रहा है और जो सवर्णों का विशेषाधिकार रहा है।

यह उस वर्ग की अनुभूति है जो दलितों-वंचितों तथा प्रभुत्वशालियों-संपन्नों का फर्क मिटाये बगैर, शोषितों-शोषकों का फर्क मिटाये बगैर अपने वर्ग से पलायन कर प्रभुत्वशालियों, संपन्नों व शासकों की बिरादरी में शामिल होने की दमित-कुंठित इच्छाओं को लंबे समय से पाल रहा था। आज उनको अपने सपने हकीकत में बदलते नजर आ रहे हैं। जाति का समाजिक यथार्थ में भले ही बदलाव आया हो या नहीं, उनकी बला से।

भारत के सामाजिक यथार्थ में विगत अतीत में आये परिवर्तनों को समझे बगैर, नयी आर्थिक-सामाजिक विसंगतियों और उनकी गतिकी को समझे बगैर बसपा के मौजूदा उभार व पतन को नहीं समझा जा सकता। निस्संदेह आज के सामाजिक यथार्थ में जाति की भूमिका वही नहीं है जो तीन-चार दशक पहले थी। राजनीतिक तौर पर बसपा का उत्तर प्रदेश या हिंदी भाषी क्षेत्रों में एक बड़ी ताकत के रूप में उभरना तथा कांग्रेस, भाजपा सहित राष्ट्रीय दलों का इन इलाकों में हाशिये पर चला जाना उन आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मात्र है जो आजादी के बाद और खास कर पिछले तीन-चार दशकों में धीरे-धीरे घटित हो रहे थे। बसपा ने इस आर्थिक-सामाजिक यथार्थ को

राजनीतिक रूप प्रदान किया। आजादी से पूर्व तथा उसके काफी समय बाद तक भारत में वर्ण ही वर्ग का पर्याय माना जाता था। जाति अथवा वर्ण व्यवस्था को अपरिवर्तनशील मानने की यह समझ गलत रही है। यह बात उत्तर औपनिवेशिक भारत के लिए तो बिल्कुल गलत थी जहां पूंजीवाद शनैः शनैः आर्थिक-सामाजिक तंत्र में घुसपैठ कर जाति-वर्ण आधारित पुरानी व्यवस्था में दरारें डाल दी थी तथा इसके आर्थिक संबंधों (सामंती उत्पादन संबंधों) को क्रमशः सुधारवादी तरीकों से काफी हद तक बदल डाला था।

भारत में कभी कोई जनवादी क्रांति नहीं हुई। न ही यहां कोई क्रांतिकारी भूमि सुधार हुए। भारतीय पूंजीपति वर्ग और उसकी पार्टी कांग्रेस का चरित्र शुरू से ही अंग्रेज औपनिवेशिक शासकों के प्रति समझौतापरस्ती का रहा था तो सामंती तत्व खुद कांग्रेस के भीतर भारी संख्या में मौजूद थे। सबको साथ ले कर चलने की कांग्रेस की नीति का उद्देश्य सामंतों के हितों का संरक्षण मात्र था। अहिंसा एवं सत्याग्रह की नीति दरअसल भूमिहीनों, गरीब किसानों व मजदूरों के भीषण शोषण-उत्पीड़न को किसी क्रांतिकारी विस्फोट में बदलने के खतरे के डर के कारण ही प्रचारित की गई। यह राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ से न निकलने देने की नीति थी। उस दौर के प्रभुत्वशाली सामंती व पूंजीपति वर्ग यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय आंदोलन की आग इनके अपने शोषण के महलों को न छू सके। इसीलिए क्रांतिकारी भूमि सुधार कभी कांग्रेस के एजेंडे में शामिल नहीं रही। दलित जो सदियों से संपत्ति व भूमि से वंचित थे, उनके लिए गांधी के पास मंदिर प्रवेश, छुआछूत मिटाने के मौखिक प्रचार के सिवा और कोई कार्यक्रम नहीं था। यह भी तब हुआ जब अंबेडकर के नेतृत्व में महाड़ जल सत्याग्रह व मंदिरों में अछूतों के प्रवेश को ले कर उग्र संघर्ष हुए तथा अंबेडकर को मोहरा बना कर अंग्रेज दलितों को राष्ट्रीय आंदोलन से विमुख करने का षड्यंत्र रचने लगे।

अंबेडकर भी जाति व्यवस्था के संदर्भ में कभी क्रांतिकारी भूमि सुधार जैसी मांगों से दूर रहे। वे अंग्रेजों की कृपादृष्टि से दलितों के लिए कुछ रियायतें, आरक्षण एवं संरक्षण प्राप्त करने के आगे कभी नहीं बढ़े। वस्तुतः वे अंग्रेजों की गोद में बैठे रहे और अंग्रेजों का देशी सामाजिक आधार जमींदार व सामंत ही थे। अंग्रेज सत्ता का हिस्सा बने रहने के चलते वे क्रांतिकारी भूमि सुधार या क्रांतिकारी संघर्ष कर भी नहीं सकते थे। अंग्रेजों ने राष्ट्रीय आंदोलन से दलितों को काटने व ट्रेड यूनियन आंदोलन में फूट डालने के लिए अंबेडकर का बखूबी इस्तेमाल किया।

मुसलमानों की तरह दलितों के पृथक निर्वाचन मंडल की अंग्रेज शासकों की नीति राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखने की ही नीति थी। अंबेडकर इस नीति के झंडाबंदार बने। यहीं गांधी से उनका टकराव भी हुआ और अंततः गांधी के आमरण अनशन व अंबेडकर के समर्पण के बाद आरक्षण के रूप में दलितों को कुछ रियायत दिलवाने तक ही अंबेडकर का संघर्ष सीमित हो गया।

अंबेडकर अगर राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा नहीं बने तो इसका मुख्य कारण कांग्रेस के अंदर ब्राह्मणवादी वर्चस्व था और अंबेडकर क्रांतिकारी भूमि सुधार की तरफ नहीं बढ़े जो कि दलित मुक्ति का वास्तविक समाधान होता, तो इसका कारण उनका ब्रिटिश सत्ता की गोद में बैठना तथा बाद में कांग्रेस का पिछलग्गू बनना या यूँ कहें सत्ता तथा शासक वर्ग से

नजदीकियां कायम रखना था। यह तथ्य है कि केवल भगत सिंह और उनके दल हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ तथा बाद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने दलित मुक्ति के वास्तविक समाधान क्रांतिकारी भूमि सुधार का प्रश्न उठाया तथा इसे अपने कार्यक्रम (हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ के घोषणापत्र व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का 1931 का 'प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन') में शामिल किया। वस्तुतः कम्युनिस्ट पार्टी का मजदूरों के बाद सर्वाधिक आधार दलित व पिछड़े भूमिहीन व गरीब किसानों में ही था। इसके कारण सीपीआई को कांग्रेसी सर्वण चमार पार्टी ऑफ इंडिया कहते थे। तेलंगना, तेभागा, पुनप्रा वायलार जैसे क्रांतिकारी भूमि संघर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में ही लड़े गये जिनमें बहुसंख्यक दलित व पिछड़ी जाति के लोग शामिल थे।

आजादी के बाद भारत के पूंजीवादी शासक वर्ग ने जाति समस्या के समाधान का कोई कारगर समाधान पेश नहीं किया। इसने क्रांतिकारी भूमि सुधार तो क्या मामूली भूमि सुधार भी नहीं किया। संपत्ति भूमि से वंचित दलितों की विशाल आबादी के लिए थोड़ी सरकारी नौकरियां आरक्षित कर के उसने अपने हाथ झाड़ लिये। ये नौकरियां ऊंट के मुंह में ज़ीरे के समान थीं।

आजादी के बाद हुए पूंजीवादी विकास, बाजार के विस्तार, कृषि में उन्नत बीजों व तकनीक का प्रयोग, नकद मजदूरी के विस्तार, बैंकों व वित्तीय संस्थानों के बढ़ते कारोबार आदि के चलते गांवों में सामंती उत्पादन संबंध दरकने लगे। जमींदार पूंजीवादी तौर तरीके अपनाते हुए पूंजीवादी भूस्वामियों में तब्दील होने लगे। पिछड़ों के पास थोड़ी-बहुत जमीन होने के चलते अपनी मेहनत से फसल उगा कर मंडी में उन्हें बेचने की सुविधा उन्हें मिली। उनके बीच संपत्ति बढ़ने के साथ नये-नये भूस्वामी पैदा हुए। वहीं दलितों में ज्यादातर मजदूरों में तब्दील हुए। लेकिन दलितों के बीच नये विभेदीकरण व वर्गीकरण आरक्षण के चलते पैदा हो गये। दलितों के बीच एक बहुत छोटा धनिक वर्ग तथा एक मध्य वर्ग पैदा हो गया। 80 के दशक आते-आते इसने एक स्पष्ट आकार भी ग्रहण कर लिया। दलितों के बीच पैदा हुए ये धनिक व मध्यवर्गीय तबकों का विशाल दलित एवं शोषित-वंचित आबादी से कोई लेना-देना नहीं था। वे सवर्णों की बिरादरी व महफिलों में शामिल होना चाहते थे। लेकिन सवर्ण क्यों इन्हें अपने बीच बैठाने लगे? अगर बैठाने भी लगे तो क्यों इनके साथ बराबरी का व्यवहार करते? यही दलितों के इस नये संपत्तिशाली धनिक मध्य वर्ग की विडंबना थी। यह आर्थिक तौर पर तो वर्णों के समकक्ष तो आ चुका था, इसलिए उसे आर्थिक मुक्ति के सवाल, भूमि सुधार के सवाल से कोई लेना-देना नहीं था। उसे तो बस सामाजिक बराबरी चाहिए थी। यहीं से यह नारा प्रचलित हुआ कि 'आर्थिक बराबरी बाद में, पहले सामाजिक बराबरी।' यही नारा दलित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का मुख्य नारा बन गया तथा बाद में सपा ने इसी को अपनाया।

बसपा के संस्थापक कांशीराम की सबसे बड़ी खूबी यह नहीं थी कि वे जमीन से जुड़े थे अथवा दलित-शोषित जनता की मुक्ति की आकांक्षा को पूरा करने के लिए प्रतिबद्ध थे, बल्कि यथार्थ इसके बिल्कुल उलटा था। कांशीराम की खूबी यह थी कि वे दलित समुदाय के भीतर पैदा हुए विभेदीकरण (संपत्ति के आधार पर) को बखूबी समझते थे। वे दलित मजदूर मेहनतकश जनता की पीड़ा नहीं,

बल्कि दलितों के बीच पैदा हुए धनिक वर्ग व मध्य वर्ग की सवर्णों के बीच घुलने-मिलने, उनके जैसे मिल जाने तथा सत्ता की मलाई का थोड़ा हिस्सा पाने की तीव्र छटपटाहट को पहचानते थे तथा खुद महसूस करते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्ताधारी वर्ग के खिलाफ जमीनी संघर्षों, व्यवस्था विरोधी गोलबंदी के बजाय पूरी व्यवस्थापरस्ती, धिनौने हथकंडे, अवसरवादी गठजोड़, सब कुछ जायज था। इसमें संघर्ष के लिए भावनात्मक अपीलें, प्रचार, सवर्णों के खिलाफ जबानी युद्ध, मनुवाद को और मनुवादियों को पानी पी-पी कर कोसने के अलावा कुछ नहीं करना था। यहां सामंत, जमींदार, पूंजीपति अथवा शोषकों के वर्ग के खिलाफ कुछ नहीं किया जाना था। भूमिसुधार जैसे मुद्दे तो कभी भूल कर भी जुबान पर नहीं लाने थे। आखिर दलितों का यह तबका विकृत पूंजीवाद के भीतर ही पैदा हुआ था और उसी से खाद-पानी लेता था। कांशीराम दलितों के नवधनाढ्य वर्ग के योग्य प्रतिनिधि थे।

कांशीराम की खासियत यह रही कि उन्होंने संगठन का निर्माण ऊपर से यानी दलितों के संपत्तिशाली प्रभावशाली तबके को पहले संगठित करके किया। इसके लिए सर्वप्रथम उन्होंने डीएस-4 (दलित शोषित संघर्ष समिति) का निर्माण किया। इमें उस समय के दलित आईएएस, पीसीएस व अन्य उच्चाधिकारियों को संगठित किया गया। इससे उन्हें ब्रेन बैंक के साथ मनी बैंक व संसाधन बैंक प्राप्त हुआ। इसके बाद दलितों के मध्यम तबकों, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को लेकर बामसेफे (बैंकवर्ड, माइनोरिटी, एंड शिड्यूल कास्ट एम्पलायज फेडरेशन) का गठन किया। इस तरह अपेक्षाकृत संपन्न तबकों को संगठित करने के बाद आम दलित आबादी को संगठित करने के लिए 1984 में बहुजन समाज पार्टी का गठन किया। कांशीराम ने अपनी राजनीतिक प्रयोगशाला का चयन भी सावधानीपूर्वक किया था। दलित आंदोलन के परंपरागत केंद्र महाराष्ट्र को छोड़ कर इन्होंने पंजाब एवं उत्तर प्रदेश को अपनी प्रयोग स्थली बनाया। इसका फायदा यह था कि उत्तर भारत के इन राज्यों में दलित आंदोलन का कोई इतिहास न होने के कारण अंबेडकर का उत्तराधिकारी होने का दावा करने में कोई बाधा नहीं थी। जबकि महाराष्ट्र में इसके लिए अंबेडकर द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी से प्रतियोगिता करनी पड़ती। उत्तर भारत में जातिवादी आंदोलन की जगह वर्ग संघर्ष की विरासत थी तथा कम्युनिस्ट पार्टियों - भाकपा व माकपा द्वारा संसदीय रास्ते पर भटक जाने तथा जमीनी वर्ग संघर्ष को तिलांजलि देने के बाद भूमिहीनों व गरीब-पिछड़े किसानों का संघर्ष राजनीतिक नेतृत्व विहीनता के दौर से गुजर कर ठंडा पड़ चुका था। यह भी गौरतलब है कि कांशीराम व बसपा को पहले पहल जो आधार मिला, वह परंपरागत तौर पर कम्युनिस्टों का आधार था। उन्होंने 'तिलक, तराजू और तलवार, इनको मारो जूते चार, वोट हमारा राज तुम्हारा नहीं चलेगा, नहीं चलेगा' जैसे इनके रैडिकल नारों को पहले पहल स्वीकार किया तथा प्रचारित-प्रसारित किया। बसपा में जातीय विभेद तथा जातीय उत्पीड़न के खिलाफ तीखे वक्तव्यों-भाषणों व नारों से शीघ्र ही दलित समुदाय के भीतर व्यापक पैठ बना ली। कांग्रेस का भी परंपरागत आधार इन्होंने खिसका दिया। पहले बसपा उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी के साथ गठबंधन कर सत्ता में आयी, लेकिन सत्ता पर पूरी पकड़ बनाने की

उसकी हसरत पूरी नहीं हुई। उसके बाद वह भाजपा के साथ गठबंधन कर उत्तर प्रदेश में सत्ता में आयी, पर ज्यादा दिनों तक टिक नहीं पाई। इसके बाद शुरू हुआ बसपा का अवसरवाद का खुला खेल। कभी भाजपा, कांग्रेस को मनुवादियों की पार्टी बताने वाली बसपा अब सत्ता के लिए कभी इनसे तो कभी उनसे गठजोड़ करती नजर आने लगी। मनुवादियों को कभी गरियाने तो कभी मनुवादी नेताओं से राखी बंधवाने का काम मायावती करने लगी। बसपा के नेता कांशीराम का इस बीच लंबी बीमारी के बाद निधन हो गया। मायावती ने अपने आप को कांशीराम का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

अवसरवाद के प्रयोग को आगे बढ़ा कर बहुजन समाज पार्टी ने अपने को सर्वजन की पार्टी घोषित कर दिया, क्योंकि सत्ता के लिए सब जायज था। बसपा जिस ब्राह्मणवाद के विरोध को अपना लक्ष्य घोषित करके सत्ता में आयी थी, अब उसी पार्टी द्वारा ब्राह्मण सम्मेलन आयोजित हो रहे थे। भारी संख्या में ब्राह्मणों (लगभग 80) व सवर्णों (लगभग 140) को पार्टी ने विधानसभा के टिकट दिये। मायावती पूर्ण बहुमत प्राप्त कर उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बन गईं। ब्राह्मणवाद को पानी पी-पी कर कोसने वाली बसपा ने ब्राह्मणवाद को पुनर्प्रतिष्ठा शुरू कर दी। अब बसपा ने नारा दिया - 'हाथी नहीं गणेश है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश है' और 'ब्राह्मण शंख बजायेगा, हाथी बढ़ता जायेगा।'

बसपा अब करोड़पतियों, माफियाओं, हिस्ट्रीशीटों की चहेती पार्टी बन गई। भारी संख्या में इन्हें टिकट भी मिले। बदले में उन्होंने मायावती पर अथाह धनवर्षा की। करोड़ों रुपयों की माला, सोने का मुकुट-हार पहन कर मायावती अपनी कामयाबी पर इतरा रही हैं। लेकिन इतना सब कुछ होने के बाद भी खुद को दलित की बेटी वे अभी भी बताती हैं।

इस बीच मायावती की संपत्ति करोड़ों-अरबों में जा पहुंची। उनके महल के लिए किसानों से जबन जमीन हथियायी गई। किसानों द्वारा विरोध करने पर गोली चलवाने से भी मायावती की सरकार बाज नहीं आई। आज अपने आप को दलित की बेटी कह कर मायावती उत्तर प्रदेश में राज कर रही हैं, लेकिन बहुसंख्यक दलित आबादी अपना खून-पसीना निचुड़वा कर दो वक्त की रोटी के लिए भी तरस रही हैं। दलित स्वाभिमान व सामाजिक न्याय के पैरोकारों का मिशन पूरा हो गया है। दहित आबादी उन्हीं सदियों से चली आ रही दरिद्रता, वंचना व अपमान की स्थिति में जी रही है। बसपा की विकास यात्रा को देख कर, उसको भारत के पूंजीवादी विकास और उसके चलते दलितों के बीच पैदा होने वाले विभेदीकरण से जोड़ कर देखने के बाद बसपा के आज का चेहरा, चरित्र और आचरण कोई अनोखी चीज नहीं रह जाता। बसपा न तो कभी दलित मुक्ति की पैरोकार थी न ही समानतामूलक समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध।

दलित मुक्ति का कार्यभार तो संपत्ति आधारित व्यवस्था का उन्मूलन किये बगैर, पूंजीवाद का उन्मूलन किये बगैर संभव नहीं है। आर्थिक बराबरी के बगैर कोई सामाजिक बराबरी या समानता की बात करना छलावा मात्र है। जाति व्यवस्था के खात्मे का सवाल मजदूर मुक्ति के सवाल के साथ जुड़ा है। मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी समाज की स्थापना के साथ ही वास्तव में करोड़ों करोड़ दलितों-शोषितों की मुक्ति संभव है।

- नगेन्द्र मनराल